# लाल चूनर

रामेश्वर 'अंचल'

# ये कवितायें....

'लाल चूनर' मेरी कविताओं का पाँचवाँ संग्रह है। इसमें मेरी सत्ताइस कवितायें संकलित हैं जिनमें 'अनाहूत' को छोड़कर सब पिछले साल लिखी गई हैं। प्रगतिशीलता और जनक्रान्ति के इस युग में ये रोमान्स और सौन्दर्य्यासक्ति की कवितायें आलोचकों और पाठकों को कैसी लगेंगी, 'किरणवेला' और 'करील' के बाद कवि की यह नई परिणति सन्तोषप्रद न होते हुए भी, उन्मादक प्रवृत्तियों के इस काव्य-दर्शन को लेकर उनके हृदय में कवि के प्रति कौन सी प्रतिक्रिया उत्पन्न करेगी यह सब जानने की एक मानवोचित जिज्ञासा होते हुए भी मेरे मन में यह विश्वास है कि जीवन की जिस वास्तविकता का रस या रसाभास इन कविताओं में अभिव्यक्त है वह मुझ जैसी वर्गगत और जातिगत संस्कारों में लिप्त सामाजिक इकाई के जीवन-प्रसंगों से ही सम्बद्ध है। सामाजिक विपमता और धन के असम विभाजन के फल-स्वरूप जनजीवन की विभीपिकाओं और दुःख, दैन्य, भुखमरी मानसिक जड़ता, बौद्धिक अन्धकार, आत्मिक निर्बलता, आर्थिक आघात और असौख्य आदि कटु कुरूपताओं से भरे हुए भारतीय मानवता के जीवन के सामाजिक अनुभवों को मैंने पहले चित्रित तो किया है परन्तु जब मैं ईमानदारी से सोचता हूँ तो मुझे लगता है मेरे पास जनता के हृदय की वेदना या जनता के प्रति वह संवेदना कहाँ है जो उसके सहस्रधार जीवन को सहस्रधार प्रेरणायें दे सके। काव्य में प्रगतिशीलता कहलानेवाले उस उपयोगी सामूहिक रस को, सामाजिक स्वतंत्रता की उस महान् तरंग को, जनता की महत्वाकाँक्षाओं और स्वार्थों के उस सर्वदेशीय साधारणीकरण को अपनी कविताओं में एक कठोर जीवन देने के लिये जिस क्रान्तिकारी मनोबल और जनता के साथ सक्रिय अभिन्नता की आवश्यकता है वह मुझमें नहीं है। यही कारण है हिन्दी के आलोचकों का मेरे सम्बन्ध में बराबर यही कहना रहा है कि वैयक्तिक विद्रोह और क्रान्ति की एक व्यक्तिवादी प्रतीति के आगे जो एक सामाजिक-श्रम की वर्ग-

चेतना को उत्तेजित करनेवाला या उसकी कठिनता और दबाव को कम करनेवाला सामूहिक आवेग होता है और सामाजिक जीवन की सर्वतोमुखी प्रगति के लिये जिसका परिपाक कविता में होना ही चाहिये वह मेरी कविताओं में नहीं है। प्रशंसकों और आलोचकों के प्रगतिशील कह देने से मैं कभी क्षणभर के लिये भी चंचल नहीं हुआ। मैं जानता हूँ उनके प्रगतिशील कह देने से मैं प्रगतिशील नहीं हो जाऊँगा। जनबल की दुर्दम शक्तियों का लौकिक सत्य और असत्य से संघर्ष ( मार्क्सवादी सिद्धान्तों की वैज्ञानिक भूमिका में ) जब तक काव्य के मूल रसाधारों से संपर्क और दृढ़ पारस्परिक विकास नहीं स्थापित कर लेता तब तक मेरी समझ में सच्चे प्रगति-काव्य की रचना असंभव है। संघर्षात्मक भौतिक-विकासवाद और दार्शनिक प्रगतिवाद ये दो भिन्न-भिन्न वस्तुयें नहीं हैं जैसा कि आम तौर पर समझा जाता है। प्रगति का जीवन-स्रोत सदैव सामाजिक संघर्ष में रहा है और इस सामाजिक संघर्ष की भौतिक चेतना को तीव्र और लोकव्यापक बनानेवाली कविता हिन्दी में कम नहीं है। परन्तु जैसा साहित्यिक आग्रह कवि के काव्यदर्शन और व्यक्तिगत जीवनदर्शन की आपसी आत्मीयता पर किया जाता है वह हिन्दी-कवियों में बहुत कम दिखाई देती है। फल यह होता है हमारी सारी जीवन-व्याख्या उस प्रेरक शक्ति से वंचित हो जाती है जो बुद्धि-परिधि से बाहर आकर कवि और पाठकों या स्रोताओं के बीच एक सजीव emotional माध्यम स्थापित कर सके। कविता में केवल विज्ञान की अकाम्यता, निस्पृहता और वास्तविकता या सामूहिक विश्लेषण की कलरवपूर्ण जागृति पैदा कर देना और उसे एक दुखद बुद्धि-प्रधान आदर्शवाद ( जो अन्त में एक तटस्थ और अनासक्त विवशता का ही बोध उत्पन्न करता है ) के अहं की परिपूर्ति का साधन बना देना ही हिन्दी के फ़ैशनेबिल प्रगतिशील कवियों का अब तक लक्ष्य रहा है। परन्तु प्रगतिशील कवि तो मेरी सहज बुद्धि में वही माना जायगा जो व्यक्तिवादी समाज और समाजवादी व्यक्ति के द्वन्दात्मक सम्बन्धों को मलिन अन्तर्चेष्टाओं

से ऊपर उठाकर व्यक्ति-व्यक्ति में कष्टसहन, त्याग और दुःखभोग की एक असाधारण (परन्तु वर्गों की व्यक्त द्विधात्मकता के सामाजिक द्वैत से संश्लिष्ट और कार्याश्रित) क्षमता उत्पन्न करे। मैं मानता हूँ एक अतिनिर्भीकतावाद के होते हुए भी मेरी कविता में वह भौतिक क्रान्तिवाद अभी नहीं बल पकड़ पाता और इसका कारण है मेरी अनाकाँक्षित आत्मवादिता।

कवि सबसे बड़ा समाजशास्त्री होता है। एक सीमा तक कलात्मक श्रम की प्रयोगवादिता से सहमत होते हुए भी वह अपनी सृजन-शक्ति को आगे चलकर सामाजिक उपयोगिता के उन प्राकृतिक स्रोतों में प्रवाहित करता है जहाँ चलकर साहित्य के समस्त काव्यात्मक और सौन्दर्यात्मक प्रयत्नों की परिणति एक क्रियात्मक और श्रेणी-संघर्ष की शक्तियों से प्रसूत क्रान्ति-दर्शन में होती है। यहाँ क्रान्ति का प्रयोग एक महान् साँस्कृतिक परिवर्तन की शक्ति और इतिहास की बहुमुखी आवश्यकता के अर्थ में किया जा रहा है। प्रत्येक प्रगतिशील कवि परिवर्तन की इन युगनियामिका शक्तियों के प्रकाश में नवीन सामाजिक और आर्थिक गठन की संभावनायें संचित करता है और इस प्रकार एक व्यापक सौन्दर्य्य की सोद्देश्य भूमि पर, जीवन की रचनात्मक प्रवृत्तियों का उद्‌घाटन करते हुए सामाजिक और फलस्वरूप मानवीय प्रगति की टिप्पणियाँ लिखता है। समाज की नीति-अनीति की मान्यताओं को गतिशील, बलविकीर्णक और सामूहिक सुखसृजन की अदम्य वृत्तियों का अधिकारी बनाकर उन्हें वह सामाजिक आत्मा के विकास की संस्कारिता और समर्थता का स्रोत बना देता है। काव्य उसका उपलक्ष्य हो जाता है और लक्ष्य होता है उस सामाजिक सत्य और मानवीय जीवन-योजना की पूर्णता का ऐक्य-बोध जो सामाजिक चैतन्य का मार्मिक आधार है। श्रेणीभेद पर आधारित समाज में समस्त वर्गद्वन्दों के सूक्ष्म आघात-व्याघातों को केवल तटस्थ जीवनदर्शक की तरह देखते न रहकर कवि उच्चतम आर्थिक, सामाजिक और इसीलिये वास्तविक परिष्कृतियों का सृजेता बनता है

और बन्धनों में छटपटाती हुई, आत्मचिन्तन में अकुलाती हुई वैयक्तिक प्रवृत्तियों को अखंड, उपकारक सामाजिक श्रेय की ओर विचारसिद्ध और यत्नसाधित करता है। चिन्तनशील अनुभूति के संकीर्ण आलबाल से निकलकर प्रगति का कवि अपने व्यक्तित्व के क्रमविकास की असंगतियों और अन्तर्विरोधों के व्यक्तीकरण के नाम पर आध्यात्मिक इशारे करता ही नहीं रह जाता वरन् इस छूँछे बुद्धिवादी अहंवाद से ऊपर उठकर भिन्न भिन्न ज्ञानशास्त्रों की जटिलताओं से आलोचित और प्रभावित मानव जीवन की अधिक सत्य और शिव ( तभी सुन्दर ) परम्परायें स्थापित करने की विचारस्थितियाँ और सकर्मक संस्कारशीलता पैदा करता है। इन सब मानों पर कसने पर मेरी ही क्या लगभग सभी प्रगतिशील कहलाने वाले कवियों की कृतियाँ इस सामाजिक रस के पोषण और संरक्षण का भार नहीं वहन कर पातीं।

वैयक्तिक वास्तविकता या इन्द्रियगम्य सत्य की ये कवितायें मेरे अवसाद के अन्तरिक्ष को चीरकर एक असफल जीवन-व्यवस्था की कुत्सित शक्तियों को ठोकर देती हुई, असत्य से अर्ध-सत्य की ओर प्रेरित हो चली हैं। परिस्थिति-सापेक्ष ज्ञान और मनोदशाओं के वर्गीकरण की विषमता के बोध ने मुझे प्रगति अर्थात् समाजवादी विवेक का कवि न बनाकर अभी तक केवल इस महान् जनसंघर्ष की लम्बी और क्रान्तिकारी क्रिया या संक्रमण की लम्बी संग्राम-अवधि में पड़ने वाले विरामस्थलों और इस विश्वसंघर्ष के मोर्चे के पीछे बने हुए विश्राम के पड़ावों का कवि बना रक्खा है। कूच करती हुई, विश्वपरिवर्तन की, मानव की अपनी सच्ची, अन्तिम और साम्यवादी मुक्ति की ओर अग्रसर प्रगति की हितकारिणी शक्तियों का सक्रिय विचार-प्रतिनिधि और कार्यकर्ता आगे चल मुझे या मेरे जैसे समस्त कवियों और लेखकों को एक दिन बनना ही पड़ेगा यह मेरा विनीत किन्तु दृढ़ विश्वास है।

इस अनगढ़ आत्मस्पष्टीकरण के बाद मैं ये कवितायें आपके सम्मुख उपस्थित करता हूँ।

**दारागंज, प्रयाग** — 'अंचल'
५—३—४४

## वन-फूल

फूल काँटों में खिला था
सेज पर मुरझा गया।

जगमगाता था उषा-सा
कण्टकों में वह सुमन,
स्पर्श से उसके तरङ्गित
था सुरभिवाही पवन,
ले कपूरी पँखुरियों में
फुल्ल मधुऋतु का सपन,

फूल काँटों में खिला था
सेज पर मुरझा गया।

प्रखर रवि का ताप—झंझा
के असह झोंके कठिन,
कर न पाये उस तरुण
संघर्षकामी को मलिन,
किन्तु झाड़ी से अलग
हो रह न पाया एक दिन,

फूल काँटों में खिला था
सेज पर मुरझा गया।

जो अडिग रहता अड़ा
तूफ़ान में बरसात में,
टूट जाता है वही
तारा शरद की रात में,
मुक्त जीवन की प्रगति भी
द्वन्द में संघात में,

फूल काँटों में खिला था
सेज पर मुरझा गया।

## निवेदन

संचित करो, लुटा दो चाहे,
मैं भण्डार तुम्हारा ;

जीवन की निधियाँ बटोरकर
अर्पित करने आया।
टूट गया अभिमान, हृदय ने
पावन अर्घ्य चढ़ाया।

दूर्वादल सी मेरी आत्मा
पहले तो सकुचायी,
किन्तु वशीकृत हो, तुमको
मैं तब से छोड़ न पाया।

अर्पित है किशोर गायक का
तनमन चिन्तन सारा।
गूँथो मुझको या बिखेर दो
मैं हूँ हार तुम्हारा।

मेरे यौवन की पंखड़ियाँ
खोलो, गूँथो माला।

मेरे मुकुलित अरमानों का
तार बने मतवाला।

प्राण-पिकी का कण्ठ सुरभि की
मधुता में मँडराये ;
या चाहो बिखेर दो देकर
चुभन, वज्र की ज्वाला।

शेष रहा क्या मुझको पाने-
को पा स्पर्श तुम्हारा ?
मुझे जलाओ, मुझे बुझाओ,
मैं हूँ दीप तुम्हारा।

चाहो मुझे ज्योति से भर दो,
तारों सा चमका दो।
जीवन की बाती को रत्न-
कणी मुस्कान पिला दो।

चुका तुम्हारा स्नेह और मैं
डूबा मरण तिमिर में।
तुम निज छवि-मन्त्रित अधरों से
एक फूँक छहरा दो।

मुझे जलाओ, मुझे बुझाओ,
मैं ममता का मारा।

## तुम !

रूप की तुम एक मोहक खान !

देख तुमको प्राण खुलते
फूटते मृदु गान।

तुम प्रकृति के नग्न चिर-
सौन्दर्य की प्रतिबिम्ब,
सृष्टि-सुषमा की पिकी की
एक निरुपम तान।

तुम विभा के आदि सर की
किरण - माला एक,
तुम तरणि की प्रथम उजली
उच्छ्वसित मुस्कान।

उल्लसित घनसार वन की
तुम वसन्ती रैन,
उर्म्मि-विह्वल सुधा-निर्झर
की प्रणति छविमान।

धूप दीपक गन्ध का
निर्माल्य तुम साकार,
ज्यों कुसुम्भी चाँदनी
पहने हरित परिधान।

पल्लवित होती विरसता,
भी तुम्हें प्रिय ! देख,
चेतना की तुम चरम
परिणति, चरम आदान।

तुम लदी कौमार्य्य कलियों
से लता सुकुमार,
मुग्ध यौवन और शैशव
की नई पहचान।

तुम समीरण की सखी
शशि की सलोनी देह,

रूप की तुम एक मोहक खान।

## मनुहार

मेरा वश चलता मैं
बन जाता कौमार्य्य तुम्हारा।

होठों पर निर्माल्य अछूता
बनकर मैं छा जाता;
अंगों के चंपई रेशमी
परदों में सो जाता!
आँखों की सुर्मई गुलाबी
चितवन में खो जाता;

मेरा वश चलता मैं
बन जाता सौंदर्य्य तुम्हारा।

जब तुम सिहर लजातीं बनता
मैं कानों की लाली;
शरद समीरण में बनता
मैं पुलकों की घन-जाली।
मैं न छलकने देता
मुसकानों की गोरी प्याली;

मेरा वश चलता मैं
बन जाता कौमार्य्य तुम्हारा।

अनबींधे मोती की शुचिता
तन में भर भर देता;
खस खस पड़ते शिथिल चीर-
को मस्तक पर कर लेता।
मैं गति चंचल मंजीरों को
अधिक न बजने देता;

मेरा वश चलता मैं,
बन जाता संभार तुम्हारा।

जब मधुसिक्त व्यथा से तुम
नीहारों-सी घुल चलतीं;
नीर-भरी सित बदली-सी जब
मुझसे किलक मचलतीं।
जब अखंड उज्ज्वलता में
तुम घनसारों-सी जलतीं;

मेरा वश चलता मैं
बन जाता निष्कंप तुम्हारा।

बनता रंग तुम्हारा—तुमसे
विलग न होता क्षण भर;

मदिर रसीली गोद तुम्हारी
देता किरणों से भर।
किसी अचीन्हें स्वर में गाता
बन यौवन का निर्झर;

मेरा वश चलता मैं
बन जाता कौमार्य्य तुम्हारा।

## ...नहीं जाती

किसी के रूप की आसक्ति
जीवन से नहीं जाती,
नहीं जाती किसी की याद
प्राणों से नहीं जाती।

किसी के प्यार का उन्माद
साँसों से नहीं जाता,
किसी की हिचकियों का नाद
कानों से नहीं जाता।
किसी के दाह का अवसाद
गीतों से नहीं जाता,
किसी की मदभरी चितवन
कलेजे से नहीं जाती।

कभी जुड़ जाय शायद स्वप्न
टूटा जो लड़कपन में,
कभी छा जाय शायद फिर
वही उल्लास तन-मन में।

कभी बिछुड़ा हुआ साथी
कहीं मिल जाय जीवन में।
निराशा से भरे दिल से
यही आशा नहीं जाती।

मुझे चारों तरफ घेरे
विवशता की कठिन कारा।
जलन इतनी—न होती लाल
क्यों यह अश्रु - जलधारा।
छिपाने को छिपा लेता
विकल चीत्कार मैं सारा।
मगर अभिव्यक्ति की मानव-
सुलभ तृष्णा नहीं जाती।

नहीं जाती किसी की याद
प्राणों से नहीं जाती।

## ठहर जाओ !

ठहर जाओ, घड़ी भर और
तुमको देख लें आँखें,

अभी कुछ देर मेरे कान-
में गूँजे तुम्हारा स्वर,
बहे प्रतिरोम से मेरे
सरस उल्लास का निर्झर,
बुझा दिल का दिया शायद
किरण-सा खिल उठे जलकर,

ठहर जाओ, घड़ी भर और
तुमको देख लें आँखें !

तुम्हारे रूप का सित आवरण
कितना मुझे शीतल,
तुम्हारे कंठ की मधु बंसरी
जलधार - सी चंचल,
तुम्हारी चितवनों की छाँह
मेरी आत्मा उज्ज्वल,

उलझतीं फड़फड़ातीं प्राण-
पंछी की तरुण पाँखें!

लुटाता फूल सौरभ-सा
तुम्हें मधु-वात ले आया,
गगन की दूधियागंगा
लिये ज्यों शशि उतर आया,
ढहे मन के महल में भर-
गई किस स्वप्न की माया,

ठहर जाओ घड़ी-भर और
तुमको देख लें आँखें!

मुझे लगता तुम्हारे सामने
मैं सत्य बन जाता,
न मेरी पूर्णता को देवता
कोई पहुँच पाता,
मुझे चिरप्यास वह अमरत्व
जिससे जगमगा जाता,

ठहर जाओ, घड़ी-भर और
तुमको देख लें आँखें!

## सांध्य गीत

सामने फिर वह खड़ी है
एक जीवित तारिका-सी !

प्रकृति के चिर मुग्ध नूतन
सिन्धु में जैसे नहाकर,
रश्मि-अंजलि से दिवा की
आ रही वरदान पाकर ;
पक्षियों ने गीत वर्षा की,
पवन ने मधु लुटाया,
जा रहा सपना-भरा दिन
सामने ध्रुव सत्य आया ;

एक कलशी चाँदनी-सी
एक पाटल गुच्छ-सी वह,
आगता निशि की नसों में
नींद की नीहारिका-सी !

लाल झुमकों से लदा जा-
सौन का यह कुंज उन्मन,
आज अपनी ही उसासों
की सुरभि से है अचेतन;
तरु-लताओं के हरे लँहगे
न फूलों से समाते,
काँपती जिन पर तितलियाँ
अलि ममाखी गुनगुनाते;

फिर निकल बाहर खड़ी
जैसे अतल की प्रेयसी वह,
मौन है वह किंतु रस-
भीगी लजीली सारिका-सी!

## मधुमास

मंजरित मधुमास।
आ गया बहता कहीं से
चीर शिशिराकाश;
आज छवि की स्वर्ण-
परियों का हरित मधुमास।
द्रुमों में चित्रित सुरभि का हास।
पल्लवित हो फूलता
वन-वल्लरी का गात;
नीम में नव बौर आये
ले वसन्ती रात।
जाल परिमल के बुने
गूँथे सिरिस ने मौर
केतकी से माँगता मधु-
दान अलि, दो और।
कह रहा तट आज सरि से
आ तनिक तो पास;
कह रहा जल से समीरण
मदिर तेरा पाश।

चूम लेगा आज जैसे
अवनि को आकाश ;
उड़ रही भू के कुसुम्भी
चीर-सी बातास।
मुक्त नव ऋतु का तरंगित मास।
कोंपलों के भार से
भर झुकी पीपल डाल ;
तरु शिखर पर कीर बोला
मत्त मोर मराल।
आज मोमी मोतियों से
गुँथे वन के तार ;
फिर लजाईं तरु-टहनियाँ
रहीं भूमि निहार।
मस्त नींबू की महक से
विहगियों के प्राण ;
मधुश्रवा उड़ती तितलियाँ
सुन पिकी के गान।
श्याम आँचल से प्रकृति के
बही सितरस धार ;
यह सृजन का सुख, तरुण
विह्वल विभा लाचार।
मंजरित मधुमास।

## गीत

बन्द कलिका से भ्रमर निकला
पँखुरियाँ काँपतीं।

प्रात होते—नव किरण के घात होते
स्वप्न से जब जागते जलजात सोते
तुहिन से मधु-लुब्ध श्यामल पङ्ख धोते
अलि पुलक संचार-सा निकला

पँखुरियाँ काँपतीं।

भीरु ज्यों प्रिय गमन से सीमन्तनी
रात होते मुँद गई थी कमलिनी
बद्ध ज्यों पत्राँक में लघु चाँदनी
अलि तड़ित के तार-सा निकला

पँखुरियाँ काँपतीं।

स्तब्ध सरि तट पवन तरु तृण
स्तब्ध विहगी विहग उन्मन
स्तब्ध उज्ज्वल सृष्टि चेतन
मधुप वीणा की कलित झंकार-सा निकला

पँखुरियाँ काँपतीं।

## अंतिम भेंट

अब तक प्रिय! मैं रही तुम्हारी
अब हो गई पराई।

सुन ओ जीवन की अँधियारी
औ' प्रकाश के दाता;
भूला जाता पन्थ मुझे
अब अपना भूला जाता।
मेरे आँचल में तेरी
साँसों का स्वर भर आता;
सोच रही मैं जली
आज से या हूँ गयी बुझाई।

शेष हो गया प्राणों का
सुख स्रोत—हृदय की बा ;
मधुर जागरण—मादक
निद्रा की वे क्वारी रातें।

आज शिथिल बाँहों के बन्धन
चुम्बन मंत्र न गाते ;
लगता यों प्राणेश ! मुझे
मैं उमड़ी—बरस न पाई ।

मैं पतझड़ के छिन्न बादलों
की दुख भरी प्रभाती ;
जो मधुऋतु का स्वप्न मिटाकर
स्वयं नहीं मिट पाती ।
पर शोलों के इकतारे सी
कँपती मेरी छाती ;
मैं अपनी आत्मा की अर्थी
लिये चली मुर्झाई ।

अक्षमता की विवश चेतना
मुझसे प्रतिक्षण कहती ;
कैसे कुचले मन से तू
खंडित तृष्णायें सहती ।
कर्मतरी तू कैसे बाडव-
दाह लिये यों बहती ;
जब तेरे जीवन की सरिता
सूखी मरु की नाई ।

लगता तुम असीम हो—सीमित
मेरी विह्वल बाँहें ;

आ न सकूँगी तुम तक—मेरी
रुद्ध हो गईं राहें।
अब तुम पिक की स्वर लहरी में
सुनना मेरी चाहें;
लुटी कपोती के क्रन्दन में
लग्न भ्रष्ट तरुणाई।

ओ जीवन के साथी! मैं क्या
देख रही थी सपना;
हँसती निर्दय नियति रोकती—
कह न किसी को अपना।
समझा रहा दुःख—जीवन में
एक मंत्र ही जपना;
रहे भूमि से ऊपर मेरे
दीपक की अरुणाई।

## नारी

है तुम्हारे अवयवों पर
स्वास्थ्य का परिधान सुन्दर ;
है तुम्हारी झलकियों में
मानिनी का मान सुन्दर ।

तुम दिया की जोत सी
तुम तो झमकते झूमरों सी ;
अप्सरा के रूप सी
तुम तो किरण के नूपुरों सी ।

लहलहाते खेत सी
उजले किलकते बादलों सी ;
तुम उदय की वायु में
विह्वल विभा से द्रुमदलों सी ।

और चैती सी भरी
मीठी—सितारों की रवानी ;
तुम पिपासा की प्रणति में
और भी लगती सुहानी ।

किन्तु नारी, सिर्फ़ नारी
हो—तुम्हें मैं जानता हूँ;
तुम प्रणय की हो खेलाड़िन
मैं तुम्हें पहचानता हूँ।

रह चुका हूँ मैं तुम्हारे
साथ रंगिनि एक युग तक;
फागुनी शब के नशे में
नीम सा पलकें भुकाकर।

जब तुम्हारी छाँह सी
लगती वसन्ती चाँदनी थी;
पंख से दो बाहुओं की
चोट हल्की भी घनी थी।

तुम वही हो गा जगाती
जो हृदय की कोंपलों को;
जानता हूँ मैं तुम्हारे
इन नशीले चोचलों को।

तुम दिखा देतीं बिना
आँसू रुलाई के नज़ारे;
पर न होते शेष—चल
पड़ते अगर आँसू तुम्हारे।

जानता दिल तोड़ने की
शक्ति तुममें है भयंकर;
जोड़ देती हो वही तुम
फिर क्षणों में मोम बनकर।

इन कुलेलों में न कोई
रह गया मुझको प्रलोभन;
एक से निष्प्राण हैं
सारे तुम्हारे ये प्रसाधन।

एक लम्बे तर्क-सी चलती
बँधी अनुकृति तुम्हारी;
फिर वही, फिर फिर वही
बस एक सी तृष्णा तुम्हारी।

अब न वे बीते दिवस
मेरे तुम्हें झूला झुलाते;
ढेर सी उजली निशाओं
में न अब वे गीत आते।

पालती तुमको न निर्मलता
हृदय की ख़ूँ पिलाकर;
रह गयी दिल की न बेचैनी
तुम्हारी सेज सुखकर।

अब न पलकों के कगारों -
पर टिकेगा मधु तुम्हारा ;
किस नयी आसक्ति के बल-
पर मुझे तुमने पुकारा।

तरु-लता-सी जानतीं तुम
गोद में ढहना हहर कर ;
खेल जैसे हो बड़ों का
प्रेम ( बच्चों का नहीं पर )।

चाहता मैं एक नूतन
देश का संवाद तुमसे ;
चाहता मैं अब न बीती
प्रियतमा की याद तुमसे।

चाहता मैं आज जलती
आग, केवल आग तुमसे ;
चाहता मैं अब न प्याली
में सुरा सा झाग तुमसे।

यह सुपरिचित वासना का
नाद लेकर क्या करूँ मैं ;
शोषितों की इन सिसकती
बिजलियों में क्या भरूँ मैं।

कौन जीवन-मंत्र दूँगा
मैं तुम्हारे चुम्बनों से;
नाग लपटों के निकालूँगा
कहाँ से मधु-कणों से।

देखते तुमको विगत दिन
सामने आते उभरकर;
चाहता पर देखना मैं युग
वही जो सृष्टि-पथ पर।

अग्नि की नव दीप्ति के रँग
में रँगे आकाश से डर;
झाँकती क्यों बाँस की
छतनार से तुम चाँद सी झर।

आ रहा मानव-प्रगति का
रक्त-रंजित वह सवेरा;
फिर न जिसके बाद होगी
रात—जड़ता का अँधेरा।

और कर्कश रव शृगालों
का मरण में लीन होगा;
जब न यह शोषण चलेगा
जब न कोई दीन होगा।

## बोल—अरे कुछ बोल

बोल—अरे कुछ बोल
अन्तर में हाहाकार लिये दीपक से जलनेवाले,
जीवन के धूल भरे दामन से शूल उगलनेवाले,
आँखों की जलधारा का क्या मोल ?
तू बोल,
कुछ तो बोल;
उजड़ते सपनों को दफ़नानेवाली बोली बोल।
हँसते निकुंज उद्यान,
हँसते रवि शशि तारक अम्बर अम्लान,
हँसता मेघों का बिजली-सा अरमान,
तू हँस न सकेगा द्वार-द्वार जानेवाले !
मैं जान गया
मैं जान गया
पर बोल ! अरे तूफ़ान उठानेवाले कुछ तो बोल !
सरसी का जल बन गया कमल,
छलका यौवन श्यामल उज्ज्वल,
वीणा के तारों में सिहरन—किरणों के हारों में स्पंदन;
कामिनियों के बजते पायल

किंकिणि कंकण छू छूम छनन
तू भी बोल !
महासागर के अन्धड़ ज्वार अरे कुछ बोल !
मध्याह्न जेठ का तपता है,
उड़ रहे बगूले बेक़रार,
मैदानों में—रेगिस्तानों में;
चक्कर खाते—जी झुलसाते—लावा-सा पिघलाते।
ढल रहा दिवा के साँचे में
रौरवी नर्क का यौवन औ' उन्माद,
चढ़ आया सड़कों मैदानों को काला बोग़ार,
गर्दो गोबार
निकल रहा चक्कर खाकर ज्यों धुँआ तोप के मुँह से।
बीती शताब्दियाँ तुझे तोड़ते पत्थर,
निकल गया है इन्क़लाब भी कई बार,
तेरी कूटी पीटी इन सड़कों पर हो होकर।
ख़ामोश रहा तू,
आज बोल पर,
ज्वालामुखियों के भीषण उद्गार आज कुछ बोल !
आँधी में दीपक बुझ जाते
पर अंगारे जलते जाते
तू अंगारों सा ही ज्वलन्त अपनी लौ की ललकार लिये,
कुछ बोल !
जीवन की आत्मा दौड़ रही कण-कण में,
विद्रोह शिखायें जाग उठीं जन-जन में,
ज़र्रा ज़र्रा तप रहा ख़ून से व्याकुल;

बज रहा महा विप्लव अशान्ति का बिगुल,
परिवर्तन—युग परिवर्तन—जग परिवर्तन
मानवता का धुल रहा ख़ून से दामन।
तू मुफ़लिस की क़ब्र सरीखा खड़ा
बवंडर की तूफ़ानी गोद में छिपा
पर कब तक यह सन्नाटा रे कब तक?
तू बोल!
उबलते जंगल की स्वतंत्र सत्ता-सा,
जन जागृति के महारम्भ में-
बोल—ज़लज़लों सा उद्यत कुछ बोल।
सुन, मैं न करूँगा फिर तेरा आह्वान
इस महाध्वंस में होऊँगा तुझसे पहले बलिदान।
मैं न रहूँगा रचने को भू पर ये नभ के चित्र,
आज तुझे जो लगते बड़े विचित्र;
पर तू कर विश्वास!
अब न रहेंगे पूँजीपति मज़दूर न स्वामी दास
अब होगा समता का शासन,
होंगे अब सब सुखी—सभी के सम जीवन साधन।
यह तेरा पागलपन
तू हैरान खड़ा दम साधे मुझको देख रहा।
ओ विप्लव के महासिन्धु,
ओ विश्व प्रगति के स्रोत,
आज तो बोल!
अरे सुन जनता का जयनाद
आज तो बोल!

## तरुणाई—इन्क़लाब से

कौन हो तुम कौन
मुझको आज बतला दो।

मुक्त अम्बर सी तुम्हारी
छोर - हीना तान;
तन्तुओं पर साँस के
तिरते उदय अवमान।

दृष्टि के झोंके तुम्हारे
क्षुब्ध पारावार?
उठ रही प्रति रोम से
संघर्ष की ललकार।

कौन हो तुम कौन
कुछ तो आज बतला दो।

सो रहे हैं मेघ
नभ में नींद के माते ;
सो रही बिजली
घनों में दृग झुके जाते ।

कल्प है तम का अगम
बढ़ती तिमिर छाया ;
आगई सन्ध्या—न नभ में
दीप जल पाया ।

कौन हो तुम कौन
कुछ तो आज बतला दो ।

डूबता ही जा रहा
निस्तेज रवि का बिम्ब ;
पश्चिमा में स्फीत वह
शीतल बदामी बिम्ब ।

द्वार पर बैठी हुई थी
मैं सजल उन्मन ;
आ गये सहसा उधर से
कौन तुम नूतन ।

कौन हो तुम कौन
कुछ तो आज बतला दो ।

है तुम्हारे ग्रीव पर
अंगार की माला ;
है तुम्हारे कंठ में
विद्रोह की ज्वाला।

ख़ून में मेरे उठा
सहसा महाकंपन ;
शुष्क सरसी को मिला
तूफ़ान का जीवन।

कौन हो तुम कौन
मुझको आज बतला दो।

है तुम्हारे माथ
किरणों का महामंडल ;
है तुम्हारे साथ
भूखे ज़लज़लों का दल।

होंठ सूखे हैं मगर
गुल्लाल सी आँखें ;
देख तुमको बन्द
विहगी की खुली पाँखें।

कौन हो तुम कौन
मुझको आज बतला दो।

मैं न तब से चुप रही
मैं दीप की बाती ;
चंचला सी जाग तब से
कौंधती गाती ।

मैं प्रगति की सहचरी
मैं क्रान्ति की अनुकृति ;
अस्थियों में फड़कती
संजीवनी हुंकृति ।

कौन हो तुम कौन
कुछ तो आज बतला दो ।

## नारी

कर रहा सुरभित-पवन
कौमार्य्य का कटिबन्ध ढीला ;
नीम की पलकें नशे में
देखतीं मधु-स्वप्न गीला ।

लय-भरी यह सृष्टि—झंकृत
हो रहा प्रति रोम वन का ;
ज्यों भरी कलशी प्रकंपित
हो—हिले प्रति-बिन्दु तन का ।

यह कनक-सी देह सरिता-
की—विभा - विह्वल तरंगें ;
आ रहीं प्रति-पर्ण से
छन-छन समीरण में उमंगें ।

मंजरी के पास वाली
कोंपलों की नर्म-धारें ;
खिल उठीं जैसे किन्हीं
श्यामल-बरुनियों की कगारें ।

आज मुझको तुम सुनाओगी
कहानी कौन नूतन ;
प्यास मुझमें तुम जगाओगी
मृगेक्षिणि ! कौन नूतन ।

पूछती हो—क्या मुझे
लगता तुम्हें यों पास पाकर ;
एक छाया-सा तुम्हारी
श्वास का अधिवास सुन्दर ।

मानता हूँ प्राण छूते
ही तुम्हारे सिक्त होता ;
पर न जगती लालसा—मैं
भी तुम्हें पाता—सँजोता ।

जागता तुमको न छू
विश्वास मेरे प्राण में क्यों ;
देख तुमको कर न पाता
मरण का परिहास मैं क्यों ।

मुक्ति-सी लगतीं न क्यों
तुम बन्धनों की ओ पिटारी !
दीप्ति प्राणों में न जगती
पा तुम्हें क्यों आज नारी !

आ गया हो ज्यों अपरिचित
अतिथि-सा यौवन तुम्हारा ;
किस विसुधि के गर्त में
खोई तुम्हारी तेज - धारा।

क्या करूँ मैं—प्रीति की यह
डोर ले कितना बढ़ाऊँ ;
और प्राणों में कहाँ तक
मैं मधुर पीड़ा बसाऊँ।

जानता हूँ मैं दरस
कैसा—परस कैसा तुम्हारा ;
हैं विफल शृंगार सारे
रूप की ओ नीलतारा !

आज यौवन भार से
क्यों हैं पराजित अंग सारे ;
हैं मुझे निष्प्राण तिनकों-
से नयन के शर तुम्हारे।

डोलतीं इस डाल से उस
डाल पर तुम पिक सरीखी ;
क्या न तुमको सामने
जलती विजन में आग दीखी।

जानती मासूम बनना
तुम बहुत—यह ज्ञात मुझको ;
याद प्राणों की चिन्हारी
का न आता गात तुमको ।

झाँकती फिरतीं किरण-सी
प्रति हृदय के तुम तिमिर में ;
किन्तु पाने का वृथा
आयास तुम ज्यों मधु शिशिर में ।

एक पीड़ा सी सदा
तुम आ कलेजे में समातीं ;
पर न लगतीं तीर-सी क्यों
मुग्ध उर का बल बढ़ातीं ।

आज नवयुग का तरुण
त्यौहार—द्रोही पर्व आया :
क्या करोगी प्यार—केवल
प्यार—मेरी क्षुब्ध काया ।

आज जीवन औ' मरण के
बीच की तुम सेतु बनकर ;
दो मुझे तूफ़ान अगले
झेलने का शौर्य्य जयकर ।

रागिनी-सी कामिनी तुम
क्रान्ति के नव-स्वर निकालो ;
छोड़कर जादूगरी
संघर्ष के ये दिन सँभालो।

आज तम के शून्य-धन्वा
से छुटो तुम अग्नि-शर-सी ;
चीर डालो तम-पटल
उरका प्रभाती-क्लान्ति हर-सी।

हो पलायित ताप-पीड़ित
ये ममाखी-सी तृषायें ;
चाँद,—रोगी चाँद लेकर
फिर न आयें मधु-निशायें।

देखकर तुमको बिछौने
की गुलाबी सुधि न आये ;
युद्ध में बढ़ते चलें
छाती फुला मस्तक उठाये।

रूप बिम्बित हो इन्हीं
संग्राम-लपटों में तुम्हारा ;
मृत्यु की झाईं न निष्प्रभ
कर सके तब मधु तुम्हारा।

## अनाहूत

हे अभागिनी, हे निर्धन !
जीर्ण-शीर्ण अंचल में तेरे
कौन बिखेर गया यह धन ?

कौन भर गया प्यासे प्राणों-
में यह लहराता जीवन ?
किस मायावी की करुणा का
आज हुआ है अभिषेचन ?

हे अनाथिनी, हे उन्मन !

अरे ! भरे आते हैं क्यों ये
तेरे व्याकुल नलिन-नयन ?
किस रोदन से किस उसाँस से
फूल उठा स्नेहाकुल मन ?

यह कैसी अव्यक्त व्यथा है
यह कैसा विचित्र वेदन !

वाष्पाकुल विक्षिप्त दृगों में
कैसा है यह हाहाकार ?
खर ज्वर तप्त तृषित अधरों में
उमड़ पड़ा कैसा क्रंदन ?

यह कैसा निष्ठुर प्रसाद है,
कैसा कसक-भरा जीवन !

जिस सुख की आशा में रहती-
थी तू मतवाली उन्मन,
जिस सुख के दाहक अभाव-
में रोता था तेरा यौवन,

जिसमें इंद्रधनुष-सी खिल-खिल
सजती थी अपना सावन,
वह तरंग हिल्लोल कहाँ है
वह विस्मृति का सोम-प्रवाह ?

यह कैसा उतार का सपना,
बेबस क्लान्त श्रमित कंपन ?
है उमंग ही पाप, लालसा
दुःसह पीड़न—आत्ममरण।

एकाकी जीवन में तेरे
अनाहूत यह आया कौन ?

कौन कर रहा है श्मशान में
किलक-किलक कलरव गायन !

फुल्ल कुन्द-सा, शुभ्र कास-सा,
यह नवनीत-मधुर सुकुमार,
किस ममता से गड़े हुए हैं
तेरे द्रवित व्यथित लोचन !

क्यों आ जाता है वह दुख-सा
जिसे न चाहो आजीवन !

किस ज्वाला से दहक रही है
तेरी रूप-भरी छाती ?
कैसे आया, यह क्या जाने
तेरे दिल की महाजलन !

कैसी खर विडंबना है यह
अनाहूत चंचल सुकुमार;
धीरे धीरे लूट ले गया
जीवन का चिर संचित धन।

कभी स्वप्न में भी न किया था
तूने री जिसका चिंतन,
कभी न आशंका की जिसकी—
वह उन्माद मदन-अर्चन।

क्षणिक नशा था—अरी बावली,
सुख ही है दुख का वाहन।
अनाहूत आकर यदि तेरा
पाप बना, अभिशाप बना,

फिर भी किस अविजानित गति से
पुलक रहा तेरा तन मन!
निर्दय तो है किन्तु सदय भी
है विराट का आवर्तन।

हे अभागिनी, हे पावन।

## पावस की सन्ध्या

यह पावस की उमड़ी गंगा
मैं लौट रहा तट से लखकर।

ऊपर घनघोर घटाओं का
पर्वत लेटा नभ में जैसे;
नीचे सागर का वेग लिये
बहता है जल अन्धड़ जैसे।

दृग दूर जहाँ तक जाते हैं
मिलता लहरों का छोर नहीं;
प्रत्येक लहर हो एक नदी
जैसे—बरसाती बाढ़ नहीं।

पुल पर गुज़रे इन्जन का गहरा
धुँआ निराशा-सा छाया;
नीचे अधजली चिताओं से
जैसे मरघट हो घबराया।

अधफुँकी लालसाओं से ज्यों
अकुलाता मुफ़लिस का अन्तर।

सम्पूर्ण व्योम को घेरे है
जल का मटियारा धुँधलापन ;
मेरी आत्मा पर छाया है
कैसा भयावना उजड़ापन।

पुरवा के मीठे झोंकों से
हिलता है तृण तृण तरु तरु पर ;
मुरदे की भीगी राख सदृश
भारी है मेरा दिल पत्थर।

जिसको सुलगा बढ़ गया कारवाँ
हो बनजारों का आगे ;
पूरी गति से जो जल न सके
अपनी प्रतिहिंसा से भागे।

आवेगी काली रात क्षणों में
तम में डूबेगा अम्बर।

दिन बीता—रजनी की अँधियारी
और घनी होती आती ;
जैसे 'उनके' जाने पर 'उनकी'
याद हृदय पर छा जाती।

मानस की भारी पीड़ा का
मैं भार लिये घर लौट रहा;
पर सोच रहा—जीवन के दुखते
अंगों ने क्या क्या न सहा।

इस जल की केवल एक लहर-
का वेग मुझे यदि मिल जाता;
तो अपने चिन्तन औ' चीत्कारों
से क्यों इतना उकताता।

क्यों 'उनको' खोकर हो जाता
मैं इतना निष्क्रिय जड़ कातर।

## जनगीत

पड़ा मैं बन्द जीवन में
मुझे बाहर निकलने दो।

नया संसार बनता है,
नये आधार जिसके सब;
खड़ा ललकारता ईमान
मेरा क्यों रुकूँगा तब?
नये युग की सजी वेदी,
चढ़ा दूँ आज अपना सब;
मिला दूँ तार मन का क्रान्ति
के जलते बमों से अब।

पड़ा मैं बन्द जीवन में
मुझे बाहर निकलने दो।

वतन को घेरती आती
भयंकर आपदा काली;
न जाये युद्ध की कोई
घड़ी इस बार फिर ख़ाली।
लड़ाई आज जनता की
उन्हीं से जो बड़े जाली;
जिन्होंने पीढ़ियों से रक्त-
शोषण की प्रथा पाली।

पड़ा मैं बन्द जीवन में
मुझे बाहर निकलने दो।

जमा है मोर्चा उनसे
उन्हीं से आज लड़ना है;
पराजित कर उन्हें इन्सान-
की क़िस्मत बदलना है।
लुटेरे हैं, नहीं जिनको
प्रजा के साथ चलना है;
सुबह के ज़र्द तारों सा
उन्हें इस बार मरना है।

पड़ा मैं बन्द जीवन में
मुझे बाहर निकलने दो।

निकलने क्यों न दोगे—तोड़
डालूँगा सभी बन्धन ;
न बन्दिश में रहेगा हथ-
कड़ी बेड़ी कसा यह तन।
मुझे जनता बुलाती है,
बुलाता काल परिवर्तन :
बुलाता है मुझे 'कय्यूर'
के मृत साथियों का प्रण।

पड़ा मैं बन्द जीवन में
मुझे बाहर निकलने दो।

## तुम्हें सौगंध है कय्यूर के उन जाँनिसारों की!

पड़ी शमशीर दुल्हन-सी
छिपी क्यों म्यान में साथी ?
चला करती क़ज़ा थी
छाँह में जिसकी बनी दासी ;
नहीं दिखती वही सूरज
किरन-सी—ख़ून की प्यासी ।
तुम्हें किस सोच ने घेरा
तुम्हें कैसी निराशा-सी ;

पड़ी शमशीर दुल्हन-सी
छिपी क्यों म्यान में साथी ?

तुम्हारे देश की सरहद
घिरी है आज चोरों से ,
बहन कहती, बचाओ
लाज जापानी लुटेरों से ;
बचानी जान जनता की
तुम्हें इन्सानख़ोरों से ।

पड़ी शमशीर दुल्हन-सी ;
छिपी क्यों म्यान में साथी ?
तुम्हें सौगन्ध अस्मत के
रुपहले इन सितारों की ;
तुम्हें सौगन्ध है 'कय्यूर'
के उन जाँनिसारों की।
तुम्हें सौगन्ध अन्धड़
और तूफ़ानी नज़ारों की ;

पड़ी शमशीर दुल्हन-सी
छिपी क्यों म्यान में साथी ?

चले पगचिह्न मानव-मुक्ति-
के रखता तुम्हारा दल ;
तुम्हारे ख़ून में जागे
सतत प्रतिरोध का संबल।
रुके विध्वंस की धारा
विजय जनशक्ति की उज्ज्वल;

पड़ी शमशीर दुल्हन-सी
छिपी क्यों म्यान में साथी ?



**तुम्हें सौगंध है कय्यूर के उन जाँनिसारों की !**

## गीत

मैं विरह की रात साथी
तुम मिलन के प्रात ;

नील तन गिरि श्रेणियों
के पार स्वर्ण ललाम।
सिन्धु के किस दूर तल में
तुम छिपे छवि धाम ;

तुम शरद के सूर्य
मैं पथ जोहती बरसात।

डूबते सित पीत श्यामल
मेघ पश्चिम पार ;
भ्रांत नीरवता बिछाये
मैं खड़ी साकार।

सो रहे मेरी पिपासा
के तरुण जलजात।

भूल जीवन की विकलतायें
पड़ी स्थिर सृष्टि;
क्षीण शशि अपलक टँगी
है तारकों की दृष्टि।

एक आशा एक मौना-
धार मेरा गात।

चाहती—करते समागम
प्राण मेरे प्राण;
ज्योति जलधर तुम जहाँ
बरसा रहे वरदान।

देखती उस देश का
मैं स्वप्न चिर अवदात।

झाँकते मन गगन से तुम
रक्त लोहित फूल;
किन्तु बाहर तो मुझे
मिलता न तम का कूल।

मलिन अपनी छाँह में मैं
डूबती दुःख स्नात।



गीत

## अन्तर्वासी से

मैं तुम्हारे प्रेम का
प्रतिबिम्ब बनकर रह गई ;
मैं तुम्हारे दाह का
अभिशाप सारा सह गई।

अनुगंता चिर बावली
मैं दूर की छाया बनी ;
मैं तुम्हारे सबल प्राणों की
सिमटती लघु अनी।

व्यर्थ पाने का जिसे
आयास उस अपनत्व सी ;
काटता जो मृत्यु सा
प्रतिक्षण उसी अमरत्व सी।

आस की विश्वास की
चादर लपेटे चल पड़ी ;
भग्न युग की शेष सीमा
पर कहानी बन खड़ी।

प्रणय की उन्मुख विकलता
के सहारे बह गई ;
मैं तुम्हारी प्यास का
प्रतिबिम्ब बनकर रह गई।

खोज वे पगचिह्न हारी
प्रेम खोया श्रेय भी ;
साथ सपनों का सखा ले
मैं चली जिन पर कभी।

पर न मुझको द्वार अब
भवितव्य का मिलता कहीं ;
मर्त्य और अमर्त्य मेरे
खो गये दोनों यहीं।

प्रिय तुम्हारे स्पर्श का
अभिमान मेरी जीत है ;
देह में बन्दी चिरन्तन
मुक्त वह संगीत है।

एक जीवित स्वप्न रातो
रात बन कर ढह गई ;
मैं तुम्हारी विवशता का
गात बनकर रह गई।

## गीत

उतर आई हृदय पर क्यों
तम्हारी शरबती चितवन।

रुपहली तारिकाओं से
चमकते स्वप्न क्यों मेरे;
सदा जो रूठतीं साधें
रहीं वे आज क्यों घेरे।
कहाँ से लौट कर आई
कलेजे से सटी आशा;
बुझाया आज ममता से
गया क्यों चाँद चिर प्यासा।

उतर आई हृदय पर क्यों
तुम्हारी शरबती चितवन।

पकड़ पतवार मन की चल
पड़ा माँझी लहर खाता;
पड़ी डूबी अतल में नाव
कब की भग्न अज्ञाता।

मुझे अब ज्ञात केवल गा
रहा प्रति रोम पुलकाकुल ;
उठे हैं बोल तरु की एक
डाली पर सहस बुलबुल।

उतर आई हृदय पर क्यों
तुम्हारी रेशमी चितवन।

निराशा से लुटा अरमान
फिर जागे तभी जानूँ ;
निखिल जल में कमल सा श्वेत
फिर जागे तभी जानूँ।
यही हो घोर अन्तिम तृप्ति
तृष्णा का तभी जानूँ ;
यही हो आख़िरी अन्तर
तुम्हें मैं बस तभी जानूँ।

उतर आई हृदय पर क्यों
तुम्हारी मंत्रिता चितवन।

## दीपावली

यह अमानिशा की भरी साँझ ।

तुम एक अनल कण-सी उज्ज्वल ;
बजती शहनाई-सी चंचल ।
दीपों की पाँत सजा छत पर ;
चल पड़ीं जलाती स्नेह-प्रखर ।

वासन्ती किरणों में छनता
गोरे मुख का गोरा प्रकाश ।

जैसे उर से चू रहे सुमन ।

जीवन की ज्योति जगी जाती ;
किरणों की लहर चली आती ।
नव राग भरे तारे तकते ;
सीपी में ज्यों मोती पकते ।

मेघों में खेल रहा बिजली
सा मादक चितवन का विलास।

जल उठे दीप सब ज्योति स्निग्ध।

जग पड़े सुप्त प्राणों के स्वर;
ममता के पंछी जगे मुखर।
तुम खड़ी अनावृत लिये थाल;
ले पूर्ण चन्द्र जो निशा बाल।

सपना सा देख रही पूनो
का मुदित दिवाली लुब्ध श्वास।

## चाँदनी

चाँदनी में आज केवल
चाँद की बातें करो।

प्रेम की मधुझील के तट पर
मिले हम आज फिर,
उग रहे आकाश को
भरते हुए तारक शिशिर,
आज ओ मधुवर्षिणी!
आये दृगों में स्वप्न तिर।

चाँदनी में आज केवल
चाँद की बातें करो।

लग रही कटि की तुम्हारी
किङ्किणी पय धार-सी,
कङ्कणों से उठ रही सित
मन्त्रिता झनकार-सी,
कनक बेसर के नगों की
ज्योति पारावार-सी।

चाँदनी में आज केवल
चाँद की बातें करो।

हैं चमकते सङ्गमरमर
से तुम्हारे अङ्ग खुल,
हों गुँथे ज्यों कुन्तलों में
मोतियाँ, मोती, मुकुल,
है तुम्हारे रूप का
साम्राज्य यह अम्बर विपुल।

चाँदनी में आज केवल
चाँद की बातें करो।

बँध रहा सौन्दर्य चितवन
में तुम्हारी छवि प्रखर,
आज तुम जो भी कहो
सङ्गीत-सा होगा मधुर,
सृष्टि-स्थिर घनसार का
उज्ज्वल चँदोवा तानकर।

चाँदनी में आज केवल
चाँद की बातें करो।

## सत्य और स्वप्न

स्वप्न है संसार तो किस
सत्य के कवि गीत गाये ;
तोड़कर अपना हृदय
किस सत्य की प्रतिमा बनाये ।

जानता कवि कौन सा सुख
फूल को जो फल बनाता ;
दूज का क्यों चाँद दौड़ा
पूर्णिमा की ओर जाता ।

जागती पिक की कुहुक से
प्राण में कैसी कहानी ;
रूप स्वप्नातीत किसका
रात कर देता सुहानी ।

गन्ध से आतुर समीरण
ज्योति से उमगे सितारे ;
स्नेह से फैली नदी
सौन्दर्य्य से जकड़े किनारे ।

लोच भर देती हवा में
खेतियाँ क्यों लहलहातीं ;
जान पड़ जाती किरण में
सुन खगों की क्यों प्रभाती ।

मेघ वर्षा के धरा का
नित नया संस्कार करते ;
चन्द्र किरणों में शिथिल
नव किशलयों के गात झरते ।

स्वप्न हैं ये सब अगर
किस सत्य के कवि गीत गाये ;
कौन सुषमा से बड़ा
सन्देश मानव को सुनाये ।

## दीपावली

दीपों से भरे थाल सी तुम !

हरी दूब का चोली बन्धन,
तोड़ रहा नव ऊर्म्मिल यौवन;
उतर अनिल तारों पर उज्ज्वल,
शरद किन्नरी मुग्ध अचंचल;

बिजली के मृणाल सी जगमग
बाहों में आलोक लहर।

खुल पड़ा पीठ पर केश भार।

तुम सद्य स्नात सी रूप-सजल,
उड़ते छींटे रंगीन विमल;
तुम किसकी पूजा को आई,
तुम मूर्तिमान ज्यों अरुणाई;

किसी तपस्वी की संचित
ज्वाला सी अन्धकार-कातर।

तुम फुल्ल स्वर्ण मल्लिका कुंज।

तुम चली मचलती बलखाती,
नभ के तारों को शरमाती;
रस से गीली बयार झूमो,
किरणों ने कलिकायें चूमीं;

साथ तुम्हारे अभिनन्दन को
अम्बर उतर पड़ा भू-पर।

## मंज़िल !

मेरी आँखों में सपनों का
एक नया संसार बसा ;
मेरी आँखों में समाज का
एक नया आकार बसा !

मेरा आग्रह है समता पर—
वर्ग रुग्ण मन स्वस्थ बने ;
झुकी कमर, अवनत मस्तक
मानव का फिर से उठे तने।

गूँज रहे मेरे कानों में
जन जागृति के अभिनव स्वर ;
दौड़ गई मेरे प्राणों पर
श्रम सत्ता की नई लहर।

जहाँ व्यक्ति के अशुभ अहम्
के क्रन्दन कभी न सुन पड़ते ;
जिन समाज सम्बन्धों में
न विषमता के कण्टक गड़ते।

मेरे गीतों में नूतन
आदर्शों के अंकुर फूटे ;
नव विचार संघर्षों में
संस्कारों के बन्धन टूटे ।

मैं कहता हूँ—वर्ग चेतना
युग की प्रबल चुनौती है ;
युग युग के विकास की
विश्वासों की रुकी मनौती है ।

मैं उनसे कहता हूँ जो
अपने सुख में मदहोश पड़े ;
मैं उनसे कहता हूँ जो
अपने स्वार्थों पर लुब्ध अड़े ।

क्यों असंख्य भूखे नंगों के
शव पर वे बिहार करते ;
क्यों जनता को चूस चूस कर
अपने राजमहल भरते ।

क्यों सड़कों पर पड़े क्षुधा—
पीड़ित को ठुकराते चलते ;
उनके भवनों में शोषण के
कितने रुधिर-दीप जलते ।

कब तक पशुता के प्रतीक वे
ज़ुल्म करेंगे—दुख देंगे ;
अपनी स्वार्थ साधना में
मानव समाज की बलि लेंगे ।

हनन करेंगे कब तक 'सब के
सुख' को वे 'कुछ' के सुख पर ;
कब तक वे तेज़ाब उड़ेलेंगे
मानवता के मुख पर ।

सुन लें वे—सोई चिनगारी
प्रतिहिंसा की आज जगी ;
नवयुग का ख़ूनी सर्जन ले
महाक्रान्ति की आग लगी ।

इस विप्लव का—इन लपटों का
कोई भी प्रतिकार नहीं ;
रोक सके जन-ज्वाला—कोई
दमन नहीं संहार नहीं ।

## विपर्यय

शून्य मन्दिर में न कोई
वन्दना क्यों आज गाता ?

फूल किरणों के गुँथे
कुन्तल लिये ऊषा न आती ;
सुन न पड़ती ज्योति क्रीड़ा
में खगों की नवप्रभाती ।

पूर्व से हँसते हुए
दिनकर न आकर दान देता ;
स्वप्न नयनों के न धोता
जागरण का नव विजेता ।

शून्य मन्दिर है पड़ा
छाया तिमिर-बन्दी पुजारी ;
बन्द हैं पट—एक भी
दिखती न जीवन की चिन्हारी ।

आज कोई क्यों न प्राणों
की सरस वीणा बजाता।

ऊँघती रहतीं लिये
शृङ्गार उजड़ा बीथिकायें;
टहनियों में—झाड़ियों में
व्यक्त पतझड़ की व्यथायें।

शुष्क मुरझाये कुसुम
वीरान है सारा बगीचा;
था जिसे निज रक्त से
कितनी बहारों ने न सींचा।

श्वेत पातों पर कमल की
जल न सरसी का छलकता;
है वही प्यारा चमन
कोई भला कह आज सकता।

थाल पूजा के लिये
निर्माल्य यौवन का न आता।

धूप अक्षत औ अगुरु
का धूम सुरभित चाँदनी सा;
नीर का अभिषेक, मोमी
मोतियों में दामिनी सा।

रजत शंखों का महास्वन
ध्वनित सागर सा तरंगित ;
ढह गये किस नाश में ये
मुग्ध जीवित स्वप्न पुलकित ।

उच्चरित होता न शत-शत
मुक्त कंठों का जयी स्वर ;
व्योम चुम्बी अनिल-क्रीड़ा
रत ध्वजा का नाद फर फर ।

आज कोई क्यों न माथे
पर रुधिर चन्दन लगाता ।

क्यों किसी ने भी न अब तक
दीप पूजा का जलाया ;
आरती की वर्तिकाओं
ने विभा से मुँह छिपाया ।

सुन न पड़ती भैरवी की
प्रज्ज्वलित ललकार साथी ;
आज दिखती है न अगणित
नत सिरों की पाँत साथी ।

आज सोये हैं कहाँ
सीसौदिये वे आनेवाले ;

वे प्रबल रण बाँकुरे—
सर्वस्व दाता वे निराले !

बुझ गई धूनी न कोई
क्यों उसे फिर से जलाता।

हैं मुँदे लोचन प्रगति के
ज्योति की अवरुद्ध धारा ;
तोड़ता जो बाँध नियमों
का न वह पाता किनारा।

है मलिन वह रूप की छवि
वह महा प्रतिमा विजय की ;
घेरती आती चतुर्दिक से
महाआँधी अनय की।

बन गया जीवन पराजय
और रोदन की कहानी ;
रूप औ' सौन्दर्य के
चारण सुकवि की मूकवाणी।

बन्धनों के नीड़ में
सोये शिथिल नवयुग विधाता।
शून्य मन्दिर में न कोई
वन्दना क्यों आज गाता ?

## क्रम

प्रकाशक
अवध-पब्लिशिंग-हाउस
लखनऊ

मूल्य २)

मुद्रक
भार्गव-प्रिंटिंग-वर्क्स
लाटूश रोड, लखनऊ

# हमारे प्रकाशन

**हिन्दी विश्व-भारती**—धारावाही रूप में प्रकाशित ज्ञान-विज्ञान का महान् कोष। ५० भागों अथवा (प्रति पाँच-पाँच भागों को) १० जिल्दों में संपूर्ण होगा। प्रति १२ भागों का पेशगी मूल्य १७॥); (पाँच-पाँच अंकों की) प्रति जिल्द का मूल्य १२॥)। चार जिल्दें छपकर तैयार हैं, शेष छप रही हैं। [ विशेष विवरण के लिए कार्यालय को लिखिए ]

**भारत-निर्माता**—भारतीय संस्कृति और राष्ट्र का निर्माण करनेवाले प्रतिनिधि महापुरुषों के एक नवीन दृष्टिकोण से अंकित ओजपूर्ण जीवन-परिचय। साथ ही क्रेयान-शैली में प्रत्येक के अत्यन्त कलापूर्ण रेखाचित्र भी। १०० पौण्ड के मोटे कागज़ पर दुरंगी छपाई। दो भागों में समाप्त। प्रथम भाग प्रकाशित हो चुका। मूल्य ४) डाकख़र्च ।।=); दूसरा भाग तैयार हो रहा है।

**मानो-न मानो**—अनहोनी-सी किन्तु शत-प्रति-शत सच्ची विचित्र बातों का अनूठा संग्रह। परिवर्द्धित और संशोधित नवीन संस्करण। दुरंगी छपाई। मूल्य ४), डाकख़र्च के लिए ।।=) अतिरिक्त।

**अंतर्राष्ट्रीय ज्ञानकोष**—संसार के सामयिक, राजनीतिक और आर्थिक रंगमंच पर भाग लेनेवाले प्रमुख राष्ट्रों, राजनीतिज्ञों, जननायकों तथा युगपरिवर्त्तनकारी धाराओं और संस्थाओं के संबंध में जानने योग्य बातों का अनेक नक़्शों और चित्रों सहित संकलन। द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण। ५०० पृष्ठ। मूल्य ५॥), डाकख़र्च ।।=) अतिरिक्त।

**ये भी मानव हैं**—सभ्यता की दुनिया से परे प्रकृति की गोद में बसनेवाली संसार की मुख्य-मुख्य जंगली, असभ्य और अर्द्ध-सभ्य, आदिम जातियों का मनोरंजक परिचय। मूल्य ४), डाकख़र्च ।।=)

**चलचित्र**—अपने ढंग के अनूठे विनोदपूर्ण मौलिक निबंधों का संग्रह। मूल्य १॥)

**रेखाचित्र**—अपने ढंग के अनूठे विनोदपूर्ण मौलिक निबंधों का संग्रह। मूल्य १।)

**अर्द्धवृत्त**—मौलिक सामाजिक उपन्यास। मूल्य १॥)

**इन्दीवर**—मोपाँसा की बारह कहानियों का संग्रह। मूल्य १।)

**तीन नाटक**—(आदिम युग, मनु और मानव, कुमार-संभव) नाटककार, श्री उदयशंकर भट्ट। मूल्य ३)

**अमृत और विष**—श्री उदयशंकर भट्ट की मर्मस्पर्शी, दार्शनिक कविताओं का संग्रह। मूल्य २)

**युगदीप**—श्री उदयशंकर भट्ट की कविताओं का मार्मिक सुन्दर संग्रह। मूल्य २)

## हिन्दी विश्व-भारती कार्यालय, चारबाग़, लखनऊ